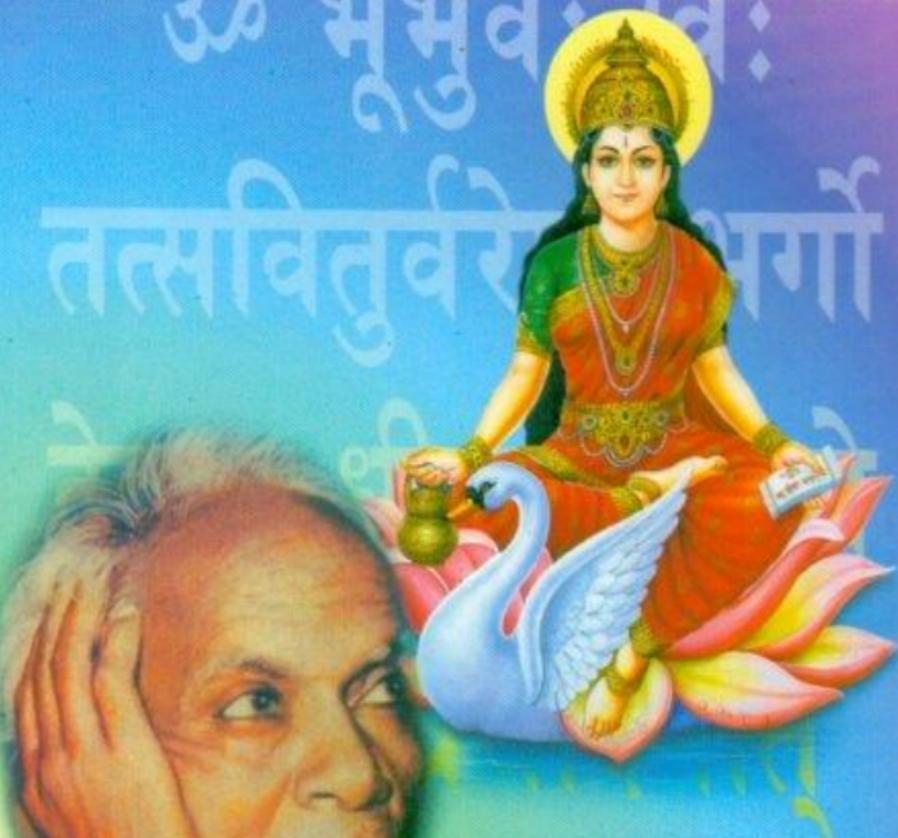


# आत्मिक प्रगति के लिए अवलम्बन की आवश्यकता



■ ग्रहावर्चस्

ॐ

भूर्भुवः स्वः  
तत्सवितुर्वरेण्यं  
भर्गो देवस्य धीमहि ।  
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

-यजु० ३६.३

०००

उस प्राण स्वरूप, दुःख नाशक, सुख स्वरूप, श्रेष्ठ,  
तेजस्वी, पापनाशक, देव स्वरूप परमात्मा  
को हम अंतरात्मा में धारण करें।  
वह परमात्मा हमारी बुद्धि को  
सन्मार्ग पर प्रेरित करे॥

## गुरु बंदना

ॐ गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुरेव महेश्वरः ।

गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु महेश हैं और गुरु ही परम्ब्रह्म हैं, ऐसे सदगुरुदेव को नमस्कार है।

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।

तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

जिस परमात्म शक्ति से जड़-चेतन रूप संपूर्ण विश्व-ब्रह्मांड संव्याप्त है, उस (परमात्म शक्ति) का साक्षात्कार-स्वरूप दर्शन कराने वाले सदगुरुदेव को नमस्कार है।

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।

यस्य वागमृतं हन्ति विष्णुं संसारसंज्ञकम् ॥

सर्वदा गायत्री रूप में विद्यमान रहने वाले उन सदगुरुदेव को नमस्कार करते हैं, जिनकी वाणीरूप अमृत से संसार (भव-बाधा) रूपी विष विनष्ट हो जाता है।

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।

नमोऽस्तु गुरु सत्तायै श्रद्धा प्रज्ञायुता च या ॥

माता के समान लालन (दुलार) करने वाली और पिता के समान मार्गदर्शन (सुधार) करने वाली उस गुरुसत्ता को नमस्कार है, जो श्रद्धा और प्रज्ञा से समन्वित है।

मातरं भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगदगुरुम् ।

पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

(विश्व) माता स्वरूप वं० माता भगवती देवी शर्मा तथा जगत् पिता स्वरूप वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, दोनों के चरण कमलों में सिर झुकाकर बारंबार प्रणाम करता हूँ।

# श्रद्धा का आरोपण-गुरु तत्त्व का वरण

अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा की शक्ति को सर्वोपरि माना गया है। एक ही मंत्र, एक ही साधना पद्धति एवं एक ही गुरु का अवलंबन लेने पर भी विभिन्न साधकों की आत्मिक प्रगति की गति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इस भिन्नता का मूल कारण है-श्रद्धा, समर्पण, इष्ट के प्रति ऐसा लगाव कि दोनों एक रूप हो जाएँ। जहाँ श्रद्धा नहीं होती, वहाँ सभी उपचार बाह्य कर्मकांडादि निष्प्राण बने रहते हैं। गीताकार ने ठीक ही कहा है-श्रद्धामये यं पुरुषः यो स एव सः अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वयं भी वही अर्थात् उसके अनुरूप बन जाता है, ढल जाता है। शिष्य और गुरु के मध्य जो श्रद्धा के सूत्रों का सशक्त बंधन रहता है, वही लक्ष्य तक पहुँचाने में, अध्यात्म क्षेत्र की समस्त विभूतियाँ हस्तगत करने में प्रमुख भूमिका निभाता है।

जिस श्रद्धा के सहारे मीरा ने गिरधर गोपाल को साथ रहने के लिए विवश किया, एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मिट्टी से बनी प्रतिमा को असली द्रोण से भी अधिक समर्थ बनाया था, रामकृष्ण परमहंस ने पत्थर की प्रतिमा को जीवंत काली जैसा भोग ग्रहण करने के लिए सहमत कर लिया था, वह श्रद्धा तत्त्व ही आत्मिक प्रगति का आधार भूत कारण है। इसे उपार्जित करने के लिए जीवंत गुरु का आश्रय लेना पड़ता है। व्यायामशाला में प्रवेश करके ही बलिष्ठ पहलवान बनने की बात सधती है। डंबलों-मुगदरों के सहारे भुजदंड मजबूत किए जाते हैं। श्रद्धा संवर्धन के लिए गुरु के प्रतीक को सदाशयता की प्रतिमा मानकर चलना होता है। यह भाव निर्धारण प्रायः वैसा ही है जैसा कि मिट्टी के ढेले से कलावा लपेट कर उसे श्रद्धा-आरोपण द्वारा साक्षात् गणेश जैसा समर्थ बनाया जाता है।

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ३

जीवन में हर महत्वपूर्ण कार्य के लिए शिक्षण प्रक्रिया एवं शिक्षक के अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है। अभिभावकों को विशेष रूप से माता की यह भूमिका सर्वप्रथम निभानी व बच्चे में सुसंस्कारिता समाविष्ट करनी होती है। आत्मिक प्रगति की जब भी चर्चा होती है, मार्गदर्शन एवं सहयोग के लिए “सद्गुरु” का आश्रय लिये जाने की बात कही जाती है। जन समुदाय की प्रवृत्तियाँ लोक प्रचलन के अनुरूप होने के कारण यह कार्य एक प्रकार से प्रवाह के विरुद्ध चलने के समान है, जैसां कि अधिकांश व्यक्ति सोचते व करते रहते हैं। आत्मिक प्रगति के लिए भिन्न स्तर का सोच अपनाने के लिए व तदनुरूप अपने क्रिया-कलापों को ढालने के लिए एक सशक्त अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है। यह कार्य किन्हीं समर्थ आदर्शवादी, श्रेष्ठ स्तर के व्यक्तित्वों के साथ घनिष्ठता स्थापित करने पर ही बन पड़ता है। इसी व्यवस्था को गुरुवरण या गुरु दीक्षा कहते हैं। गुरु दीक्षा अर्थात् गुरु के रूप में एक ऐसी सत्ता को संपूर्ण समर्पण जो उत्कृष्टताओं का, सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय हो। जिसके पद चिन्हों पर चलकर, जिसके द्वारा प्रदत्त मार्गदर्शन को अपनाकर अपनां जीवन भी वैसा ही श्रेष्ठतम् व सार्थक बनाया जा सके। यह समर्पण सघन श्रद्धा के माध्यम से ही बन पड़ता है।

क्यां किसी एक गुरु का, सोचसमझ कर, चयनकर, निर्धारण कर गुरुवरण करना आवश्यक है? यह कार्य क्या अनेकों सुयोगों से संपर्क स्थापित करते रहने पर संभव नहीं है? इन जिज्ञासाओं के समाधान के लिए पी-एच०डी० करने वालों, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट्स की परीक्षा देने वालों, वकीलों तथा डॉक्टर बनने के बाद इंटर्नशिप की प्रक्रिया से गुजरने वालों की सुव्यवस्थित अभ्यास की विधि-व्यवस्था पर दृष्टि डालनी होगी। “गाइड” अथवा प्रशिक्षण तंत्र के माध्यम से ही उपरोक्त प्रयोजन पूरे होते हैं। निश्चित निर्धारण के बाद एक सुनिश्चित उत्तरदायित्व भी बनता है एवं उस सीमा-बंधन

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ४

के आधार पर शिक्षण प्रक्रिया की समग्रता की सुनिश्चितता भी रहती है।

अनिश्चय की दशा में जहाँ-तहाँ से चंचु प्रवेश करते रहने से उपर्युक्त कार्यों में से एक भी नहीं सधता। इसलिए परंपरा ऐसी ही बनायी गई है कि महत्वपूर्ण कार्यों के लिए विधिवत् एवं निर्धारित प्रशिक्षण हो, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट, एडवोकेट, डॉक्टर आदि का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने की अवधि में भी किन्हीं विशिष्टों के साथ जुड़े रहने की विधि-व्यवस्था है। इस मर्यादा का उल्लंघन कर, जहाँ-तहाँ से जब तब शिक्षण प्राप्त करते रहने की व्यवस्था करने से भी बात बनती नहीं। यों अन्यों से पूछताछ करके, तदविषयक अनेकानेक पुस्तकें पढ़कर, अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करते रहने पर कोई रोक नहीं है, फिर भी निश्चित उत्तरदायित्व में बँधने की प्रचलित विधा का उल्लंघन करने, उसे निर्थक मानकर उपेक्षा करने से भी बात बनती नहीं।

अध्यात्म क्षेत्र में भी वही बात इसी तरह लागू होती है। आत्मिक क्षेत्र की प्रगति भौतिक प्रगति से कम नहीं, अधिक ही अभीष्ट है। आत्मिक प्रगति से ही व्यक्ति को अनगढ़ से सुगढ़ बनने एवं अपने व्यक्तित्व की गरिमा को असाधारण रूप से बढ़ाने का अवसर मिलता है। उसकी जो फलश्रुतियाँ हैं, अपरिमित उपलब्धियाँ हैं, उन्हें देखते हुए गुरु का आश्रय लेना हर दृष्टि से अनिवार्य माना जाना चाहिए।

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तरह तीन देवता धरती के माने गए हैं। माता, पिता और गुरु की तुलना उन त्रिदेवों से की गयी है। माता ब्रह्मा क्योंकि यह बालक को पेट में रखती और अपना शरीर काट कर, बालक का शरीर बनाकर जन्म देती है। पिता को विष्णु माना गया है, क्योंकि वह बालक के भरण-पोषण की, शिक्षा, चिकित्सा, विवाह, आजीविका जैसी अनेक

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ५

आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसे समर्थ बनाता है। इस प्रकार पिता विष्णु ठहरता है। गुरु की गरिमा इन दोनों से ऊँची है। माता-पिता तो मात्र शरीर का ही सृजन और पोषण करते हैं जबकि गुरु आत्मा में, व्यक्तित्व में सुसंस्कारिता का आरोपण करके, उसे इसी जन्म में दूसरा जन्म प्रदान करता है। द्वित्व एक उच्चस्तरीय संस्कार है, जिसे यज्ञोपवीत दीक्षा के साथ कर्मकांड के रूप में संपन्न किया जाता है। यह प्रतीक पूजा हुई। वस्तुतः इस कृत्य के पीछे गुरु वरण की भूमिका ही काम करती है। माता-पिता के सहयोग से मानव शरीर की उपलब्धि जितनी महत्वपूर्ण है, उससे भी अधिक गुरु महिमा की सहायता नर-पशु का, नर-नारायण बनने की संभावना के संबंध में समझी जा सकती है। आत्मिक क्षेत्र का परिशोधन परिष्कार कर सकने वाली गुरु गरिमा को वस्तुतः मूर्तिमान शिव कहा जा सकता है। इसी रूप में वंदना अभ्यर्थना के स्तवन छंद भी बने और गाए गए हैं।

गुरुजनों के सानिध्य-अवलंबन से कितने ही सामान्य व्यक्तियों को असामान्य बनने का अवसर मिला है। बुद्ध के अनुग्रह से हर्षवर्धन, अशोक, आनंद, कुमारजीव जैसे कितनों को महानता के उच्च शिखर तक पहुँचाने का सुयोग मिला। अंगुलिमाल, आम्रपाली जैसे कितने ही हीन व्यक्ति महामानव के रूप में कायाकल्प कर सकने का सौभाग्य अर्जित कर सके। समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी की, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद की, चाणक्य और चंद्रगुप्त की, विरजानंद और दयानंद की आत्मिक घनिष्ठता यदि बन न पड़ी होती, तो यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि दोनों ही पक्ष घाटे में रहते। विशेषतया इन युगमों से संबंधित शिष्य पक्ष को ही, अपेक्षाकृत अधिक घाटे में रहना पड़ता। कल्पना की जा सकती है कि यदि स्व० राजेन्द्र बाबू, पटेल, नेहरू, राजगोपालाचार्य, विनोबा आदि की गाँधी जी के साथ घनिष्ठता न

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ६

जुड़ी होती, वे अपना-अपना अभ्यस्त ढर्दा अपनाये रहे होते, तो निश्चय ही दोनों पक्षों को उतना गौरवान्वित होने का अवसर न मिलता, जितना कि संभव हो सका। संभव है उस स्थिति में गाँधी जी अपनी तपश्चर्या को दधीचि आदि की तरह एकाकी भी चलाते रहते और महानता के उच्च शिखर पर पहुँच जाते, किंतु उनसे संबंधित अगणित व्यक्तियों की स्थिति सर्वथा भिन्न होती, वे कामकाजी लोगों की तरह मात्र अपना निर्वाह ही चलाते, एक छोटे दायरे में ही दिन गुजारते और धनी-निर्धन रहकर जिंदगी के दिन पूरे करते। उन्हें यह सौभाग्य न मिल पाता जो गाँधी जी की छत्र-छाया का आश्रय लेने पर मिल सका। यह श्रेष्ठता के सान्निध्य, सामीप्य, अवलंबन का ही चमत्कार है कि साधारण व्यक्ति असाधारण बनता देखा जाता है। गुरुवरण की आवश्यकता व महत्त्व इसीलिए बतायी जाती रही है। श्रद्धा इस प्रक्रिया का प्राण है। इतना समझ लेने पर आत्मिक प्रगति के इच्छुकों को वह राजमार्ग मिल जाता है, जिस पर चलकर वे अनुग्रह-अनुदानों से लाभान्वित होते हैं।

### **समर्थ बनना हो, तो समर्थों का आश्रय लें**

युग निर्माण योजना मथुरा एवं प्रज्ञा अभियान शांतिकुंज हरिद्वार के संस्थापक संचालक, लाखों प्रज्ञा परिजनों के गुरु पूज्य पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी कहते रहे हैं कि यदि उन्हें किसी महान मार्गदर्शक का अनुग्रह न मिला होता, तो वे उस स्थिति में न पहुँच सके होते, जिसमें कि पहुँच सकने में वे समर्थ हुए। उन्होंने अपने मार्गदर्शक पर समग्र श्रद्धा एकत्रित करके समर्पित की है। फलतः उदार अनुदानों की अमृत वर्षा होने लगी और उसका लाभ आरंभ से लेकर आज तक अनवरत एवं अविच्छिन्न क्रम से मिलता रहा। यदि इस स्तर पर शिष्य का श्रद्धा-समर्पण न रहा होता, तो संभवतः अन्य अनेक चित्र पूजकों की तरह उनके पल्ले भी कुछ न पड़ा होता।

---

**आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ७**

रामकृष्ण परमहंस के तथाकथित अगणित शिष्य थे। सभी को वे आशीर्वाद भी देते रहे, पर जिन्हें निहाल कर दिया, वे विवेकानंद, ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, शारदानंद आदि थोड़े से ही साधक थे। कुछ के साथ पक्षपात, अन्यों के साथ उपेक्षा का आरोप यहाँ लागू नहीं होता। गड़दा जितना गहरा होता है, उतना ही वर्षा का जल उसमें जमा हो जाता है। ऊँचे टीले और चट्टानों पर तो वर्षा का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे रुखे के रुखे, प्यासे के प्यासे ही रह जाते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में देवता का, सिद्ध पुरुषों की सामर्थ्य का जितना महत्व है, उससे अधिक शिष्य की श्रद्धा का है। द्रोणाचार्य को शरीर और मन समेत नौकर रख कर भी कौरब वह न सीख सके, जो एकलव्य ने दूर रहकर भी मिट्टी की प्रतिमा के माध्यम से उपलब्ध कर लिया था। यह श्रद्धा का ही चमत्कार है। आत्मिक प्रगति में इसको आधारभूत कारण माना गया है। मंत्र इसी के आधार पर फलित होते हैं। देवता इसी सीढ़ी के सहारे स्वर्ग से उतर कर साधक के जीवन में प्रवेश करते और कृत-कृत्य बनाते हैं। इस श्रद्धा को जो जिस मात्रा में जमा सका, समझना चाहिए कि उसके लिए आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध करने का स्वनिर्मित राजमार्ग मिल गया। श्रद्धा विहीनों के द्वारा मंत्र को बकवास और देवता को खिलवाड़ से अधिक और कुछ नहीं समझा जा सकता। इसमें गुरु वरण का श्रद्धा-अध्यास ही प्रथम सोपान है।

इस रहस्य को समझाने के लिए शास्त्रकारों ने प्रबल प्रयत्न किए हैं। यहाँ तक कि गुरु को गोविंद से भी बढ़कर माना है। उसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपमा दी है। इतने पर भी क्यों उसके लिए उत्साह नहीं उठता? इसका एक ही कारण है कि वैसे समर्थ व्यक्तित्वों का आज एक प्रकार से सर्वथा अभाव ही हो चला है, जिन्हें गुरु के रूप में वरण किया जा सके।

जिनकी जीवनचर्या में तपश्चर्या आदि से अंत तक गुंथी नहीं है, जिनके अध्ययन-अध्यवसाय की ज्ञान-संपदा अगाध नहीं है,

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ८

जो लोकमंगल के लिए आत्म विसर्जन करने में समर्थ नहीं हो सके, जिनका चरित्र दूध जैसा धवल नहीं है, उनमें अपनी गाढ़ी आप घसीट सकने तक की तो सामर्थ्य होती नहीं, अपने लिए जिस-तिस के सामने पल्लू पसारते फिरते हैं, फिर वे अन्यान्यों की, शिष्यों की सहायता कर सकने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ? ऐसों का आश्रय लेने पर लोभी गुरु लालची चेला वाली उक्ति ही चरितार्थ होती है और एक दूसरे के लिए दोनों नरक में ठेलमठेला का फलितार्थ उत्पन्न करते हैं। जहाँ ऐसी स्थिति हो, वहाँ गुरुता के अभाव में शिष्य की श्रद्धा कैसे उमगे और घनिष्ठता स्थापित करने का सहारा और विश्वास किस आधार पर पनपे ?

आज गुरु-शिष्य के क्षेत्र में असमर्थता और अश्रद्धा का बोल-वाला है। “गुरुशिष्य अंध बधिर कर लेखा, एक न सुनइ, एक नहिं देखा” की उक्ति ही इन दिनों चरितार्थ होती दिखती है। तथाकथित गुरु यह नहीं देखते कि शिष्य का जीवन किस दिशा की ओर जा रहा है और तथाकथित शिष्यों को गुरु के निर्देश सुनकर आचरण करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती है। यही कारण है कि वह पुण्य-परंपरा धीरे-धीरे लुप्त होती चली जा रही है। लकीर पीटने के लिए कहीं कुछ कर्मकांड होते भी हैं तो उनके बीच वह निर्वाह बनता नहीं जिसमें गुरु भी यशस्वी होते हैं एवं शिष्य भी मनस्वी बनते हैं। उस सुयोग के फलस्वरूप ही ऐसा वातावरण बन सकता है, जिससे समूचे वातावरण में सत्प्रवृत्तियों का मलयानिल प्रवाहित होता रहे। इन दिनों मंत्र और देवता, अपनी शक्ति खो चले हैं क्योंकि आध्यात्मिक प्रगति का कल्पवृक्ष, गुरुशिष्य परंपरा के आधार पर विर्निमित होने वाली सिंचाई से वंचित रहकर कुम्हलाता, मुरझाता और सूखता चला जा रहा है।

यदि आत्म-विज्ञान का महत्व समझा जाय और उस दिशा में बढ़ने का साहस किया जाय, तो साथ-साथ इतना और भी होना

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ९

चाहिए कि श्रद्धा विश्वास बनाये रहने, उसे बढ़ाते चलने वाले आधार को भी किसी प्रकार उपलब्ध कर लिया जाय। किसी निर्धारित नियुक्त गुरु के अभाव में अपनायी गई गतिविधियों के संबंध में संशय ही बना रहता है। व्यक्तियों के कथनों और ग्रंथों के उल्लेखों में असाधारण अंतर और भारी मतभेद पाया जाता है। उनकी जितनी अधिक टटोल की जाय, उतना ही संदेह बढ़ेगा। किसे सही किसे गलत माना जाय इसमें तर्क भी कुछ काम नहीं देते। श्रद्धा को संशय खा जाता है, फलतः अनिश्चय की मनःस्थिति बनी रहती है। एक क्रम अपनाने, दूसरे को छोड़ने का सिलसिला चलता रहता है, फलतः दिग्भ्रांत की तरह आगे बढ़ते-पीछे हटते, छोड़ते, चक्कर काटते, समय गुजरता है। थकान और खीझ के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ता। इस चक्रव्यूह से निकलना उन्हीं के लिए संभव हो सकता है, जो आत्मिक प्रगति की दिशा में सुनिश्चित विधि-व्यवस्था अपना कर, उसे श्रद्धा एवं दृढ़ता के साथ अविच्छिन्न रूप से अपनाये रह सकें। इसके लिए फिर गुरु-वरण की आवश्यकता, अपनी अनिवार्यता सिद्ध करती हुई सामने आ खड़ी होती है।

सद्गुरु की तलाश प्रत्येक श्रेयार्थी साधक को करनी चाहिए। इस पुण्य प्रयोजन के लिए प्रज्ञा अभियान के संचालन तंत्र पूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माता जी का चयन किया जा सकता है। वे इन दिनों प्रज्ञा परिजनों की तात्कालिक आवश्यकता पूरी करने के लिए युग संधि में आत्मशक्ति के व्यापक उत्पादन का महत्व समझते हुए ब्रह्मनिष्ठ आत्माओं के सृजन में निरत हैं। सूक्ष्म व कारण शरीर से वे स्वयं व वंदनीया माता भगवती देवी सबकी परोक्ष सहायता करने में पूर्ण सक्षम हैं।

भगवान राम के दो गुरु थे, एक गुरु-वसिष्ठ दूसरे-विश्वामित्र। वसिष्ठ कुल-गुरु थे, योग वसिष्ठ उन्हीं ने पढ़ाया था; किंतु बला

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १०

और अतिबला विद्याएँ प्राप्त करने के लिए उन्हें यज्ञ रक्षा के बहाने विश्वामित्र आश्रम में रहना पड़ा। जो वहाँ सीखा जा सका, वह वसिष्ठ की सीमा से बाहर था। बला और अतिबला सावित्री-गायत्री रूपी भौतिकी एवं आत्मिकी को कहते हैं। प्रथम के द्वारा उन्होंने असुरों को परास्त किया और दूसरे के माध्यम से राम राज्य की स्थापना वाले और कठिन उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर सकने में समर्थ हुए।

एक व्यक्ति के कई गुरु होने में कोई दोष नहीं। पूज्य गुरुदेव को गायत्री मंत्र और उपनयन महामना मालवीय जी ने प्रदान किया था। इसके अतिरिक्त हिमालय से युगांतरीय चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रज्ञात्मा को वे सूक्ष्म गुरु मानते और उन्हीं के संकेतों पर अपनी गतिविधियों का ताना-बाना बुनते रहे हैं। ऐसा हर कोई कर सकता है। दत्तात्रेय जी के चौबीस गुरुओं की बात सर्वविदित है। प्राचीनकाल में भी ऐसा होता रहा है। इसकी असंख्य साक्षियाँ विद्यमान हैं।

समर्थ सत्ता के साथ जुड़ जाने पर भी किसी भी सामान्य को असामान्य बनने का अवसर मिल सकता है। बिजलीघर के साथ संबंध जुड़ जाने पर ही, बल्व, पंखे, हीटर, कूलर आदि उपकरण अपना काम करते हैं। टंकी के साथ जुड़े रहने पर नल तब तक पानी देता रहता है, जब तक टंकी खाली नहीं हो जाती। चंद्रमा, सूर्य की चमक से चमकता है। हिमालय से जुड़ी हुई नदियों का जल सूखता नहीं। पुलिस का अदना सिपाही भी अपने को शासन तंत्र का प्रतिनिधि मानता और गर्दन ऊँची उठाकर चलता है। यह संबंध जुड़ने की बात हुई। समर्थता के साथ जुड़ जाने पर असमर्थता भी समर्थता में बदल जाती है। गंदे नाले का पानी गंगा में मिल जाने पर गंगा जल की तरह सम्मान पाता है। पेड़ से लिपटने पर बेल उतनी ही ऊँची उठ जाती है, जबकि यह सामान्यतया अपने बलबूते

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ११

जमीन पर ही रेंगती है। अशिक्षित और निर्धन घर की बेटी भी किसी विद्वान् या संपन्न व्यक्ति की पली बन जाती है, तो उसका सम्मान एवं वैभव पति जितना ही हो जाता है।

सामान्यतया यह उदाहरण भक्त और भगवान् के बीच संबंध स्थापित होने के संदर्भ में दिये जाते हैं, पर उन्हें आंशिक रूप से गुरु-शिष्य के मध्य समर्थता और श्रद्धा के संयोग से उत्पन्न घनिष्ठता पर लागू किया जाय, तो वहाँ भी उदाहरण सटीक बैठ जाता है। गुरु बृहस्पति के मार्गदर्शन में देवता देवत्व प्राप्त कर सके और शुक्राचार्य के अनुग्रह से असुरों को भौतिक सिद्धियाँ हस्तांतर करने का अवसर मिला। यह सब वे दोनों, मात्र अपने बलबूते नहीं प्राप्त कर सकते थे। गुरु का मार्गदर्शन एवं शक्ति-अनुदान तथा शिष्यों की श्रद्धा एवं पुरुषार्थ के योग से ही चमत्कारी परिणाम प्रकट होते हैं।

प्राचीन काल में गुरु परंपरा भी वंश परंपरा की तरह गौरवान्वित होती थी। वंश के गोत्र पूर्वजों से नहीं चलते, वरन् गुरु परंपरा से भी चलते हैं। ऋषियों के गोत्र हर जाति वर्ग में पाये जाते हैं। हो सकता है कि उनके पूर्वज भी ऋषि रहे हों और वंश परंपरा के अनुसार उनके गोत्र चले हों। हो सकता है, वे उनके गुरु रहे हों और गुरु परंपरा को ही वंश परंपरा का प्रतीक मान कर उनका गोत्र अपनाया गया हो। यहाँ प्रतीत होता है कि पूर्वजों में, दोनों पक्षों को समान महत्व एवं सम्मान दिया गया है। तराजू को दो पलड़ों में से एक पर माता-पिता दोनों को, और दूसरे पर अकेले गुरु को रख कर तौला जाता रहा है। कारण स्पष्ट है; शरीर से संबंधित भौतिक साधनों को उपलब्ध कराने में माता-पिता का जितना योगदान है, आत्म कल्याण के लिए व्यक्तित्व में प्रखरता उभारने वाले गुरु का महत्व उनसे किसी प्रकार कम नहीं है। यह सरकस में विलक्षण काम करने वाले जानवरों को साधने से भी कठिन काम है।

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १२

तत्त्वतः यह मानवी विद्युत को हस्तांरित करने की प्रक्रिया है। आग के समीप बैठने से गर्मी आती है, ठंडे तहखाने, बर्फखाने में बैठने से कँप-कँपी छूटती है। चंदन वृक्ष के नीचे उगे झाड़-झांखाड़ भी सुगंध देने लगते हैं। स्वाति-बूँद का सहयोग पाकर सीप मोती उगलने लगती है। यह समर्थ सानिध्य का प्रभाव है, जिसकी तुलना पारस, कल्पवृक्ष और अमृत से की जाती है और इसके समीप पहुँचने, घनिष्ठ बनने, आत्मसात करने का परिणाम कायाकल्प जैसा होता है। इन उदाहरणों को गुरु-शिष्यों के मध्य प्रतिष्ठापित घनिष्ठता, आत्मीयता एवं प्रत्यावर्तन शृंखला के साथ जोड़ा जा सकता है।

यों हर मनुष्य में एक विद्युत धारा विद्यमान है, पर महामानवों में यह प्राणशक्ति अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है। उसे तेजोवलय के रूप में देखा और अनुभव किया जा सकता है। वह अपने क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का प्रभाव छोड़ती है। समीपता-घनिष्ठता होने पर महाप्राणों, सशक्तों का प्राण-प्रवाह, न्यून-प्राण वालों की ओर अनायास ही चल पड़ता है। प्रत्यक्ष कथनीपरक न होने पर भी, परोक्ष रूप से प्राणवानों के व्यक्तित्व से निकलने वाली ऊर्जा, अपने समीपवर्ती प्राणियों और पदार्थों को प्रभावित करने लगती है। ऋषि आश्रमों के समीपवर्ती क्षेत्र में सिंह एवं गाय वैर-भाव भूलकर एक घाट पानी पीते और स्नेह-सद्भाव में घुल जाते हैं। यहीं सब कुछ दीक्षा के माध्यम से संपन्न होता है।

दीक्षा देने का अधिकार मात्र महाप्राणों को है। जिसके पास कुछ वैभव है, वही दूसरे को दान दे सकेगा। जो स्वयं ही खाली हाथ है और याचना पर निर्वाह करता है, उससे कोई अनुदान मिलने की आशा करना व्यर्थ है। दीक्षा दे सकने वाले व्यक्ति उपलब्ध होना कठिन है। नाटकीय खिलाड़ करना हो, तो कोई भी व्यक्ति आपस में गुरु-शिष्य का अभिनय-प्रहसन कर सकते हैं, किंतु

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १३

पात्रता और यथार्थता न होने पर वह बात बनती नहीं, जिसकी अपेक्षा की गयी है। इसलिए शास्त्रकारों ने यह संबंध स्थापित करते समय गुरु की समर्थता और शिष्य की श्रद्धा, पात्रता को भलीप्रकार ठोंक-बजा लेने की बात कही है, अन्यथा मात्र लकीर पीट लेने भर से बात बनेगी नहीं। निर्धारित अनुशासन के अनुसार चलने पर अनुपम लाभ मिलना सुनिश्चित है।

शास्त्रकारों ने गुरु विहीन की निंदा की है। कहा गया है कि उसके हाथ से किया श्राद्ध-तर्पण पितरों तक नहीं पहुँचता। कहीं तीर्थफल न मिलने की बात कही है, कहीं उसके हाथ का जल न पीने जैसी प्रताड़ना का उपाय सुझाया गया है। यह कथोपकथन अत्युक्तिपूर्ण, आवेशग्रस्त अथवा अलंकारिक दीखते हैं, तो भी उनके पीछे यह प्रेरणा-प्रतिपादन तो है ही, कि माता-पिता का परिचय दे सकने की तरह हर व्यक्ति को अपने गुरुद्वारे का भी परिचय देना चाहिए।

माता का पता न हो, तो यह समझा जायेगा कि यह अनुचित उत्पादन रहा होगा और लुक-छिपकर कहीं से कहीं पहुँचाया गया होगा। पिता का नाम पता न हो, तो भी माता पर कुलत्य होने का आक्षेप आता है और संतान पर अवैध होने का लाञ्छन लगता है। सुसंस्कारिता संवर्धन के लिए गुरु वरण का विधिवत प्रयास हुआ नहीं, किया नहीं गया, तो यह एक कमी है, जिसे दूर करने के लिए शास्त्रकारों ने हर किसी को प्रोत्साहित किया है, इसके लिए लाभ और हानि के दोनों ही पक्ष सुझाये जाते हैं। लगता है 'निगुण' शब्द निंदाबोधक शब्दावली में एक गाली की तरह प्रयुक्त हुआ है। जो हो, शास्त्र प्रतिपादनों में इस तथ्य को और उत्तेजित शब्दों में प्रतिपादित कर गुरु की आवश्यकता समझायी गई है। उसकी पूर्ति की ही जानी चाहिए।

दीक्षा और यज्ञोपवीत का परस्पर संबंध है। यज्ञोपवीत द्विजत्व का, दूसरे जन्म का प्रतीक है। हर माता के गर्भ से नर पशु ही जन्म

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १४

लेता है, इसे सुसंस्कारी बनाने की प्रक्रिया समर्थ गुरु द्वारा ही संपन्न होती है। खदान से मिट्टी मिली धातुएँ ही निकलती हैं। उनका परिशोधन भट्टी में तपाने की प्रक्रिया द्वारा ही संपन्न होता है। न तपाने पर वे अनगढ़ ही बनी रहेंगी। मनुष्य के संबंध में भी यही तथ्य काम करते हैं। अभिभावक संतान के शरीर उत्पादन एवं परिपोषण भर की प्रक्रिया संपन्न कर सकने की स्थिति में होते हैं। सुसंस्कारिता, प्रखरता से संतान को संपन्न बनाने के लिए किन्हीं ऐसे महाप्राणों का आश्रय लेना पड़ता है, जो इस दृष्टि से समर्थ हों।

गुरुकुलों में रहकर शिक्षा और प्रखरता उपलब्ध की जाती है। जब यह निकटता संभव नहीं होती, तो पत्राचार विद्यालय, रेडियो पाठ्यक्रम, टेलीफोन वार्ता अथवा समय-समय के वार्तालाप द्वारा भी विचार-विनिमय का, आदान-प्रदान का उपक्रम चलाना पड़ता है। गुरु-शिष्य की दीर्घकालीन समीपता संभव न होने पर अन्यान्य सूत्रों से भी यह संबंध गतिशील रखा जा सकता है। मुर्गी अपने अंडे को पेट के नीचे रखकर सेती, किंतु कछुई रेती में अंडे देकर अपने प्राण-प्रवाह से सेती और पकाती रहती है। यदि इसी बीच कछुई मर जाय, तो रेती में छोड़ा गया अंडा भी सड़ जायेगा। ऐसा आदान-प्रदान गुरु-शिष्य के बीच चलता है। राम-विश्वामित्र के, कृष्ण-संदीपन के गुरुकुल में पढ़ते थे, किंतु जब पढ़ने की स्थिति न रही और अलग रहने का अवसर आया, तो भी वह आदान-प्रदान प्रत्यावर्तन सूत्र यथावत स्थिर रहा। माध्यम बदल गए, तो भी समर्थ मार्गदर्शन और अनुदान-प्रतिदान की शृंखला दूटी नहीं। यही क्रम स्नेह-सूत्रों के जुड़े रहने पर अन्यत्र भी चलता-रह सकता है।

साधना से सिद्धि की चर्चा से अध्यात्म शास्त्र भरे पड़े हैं। हर साधना का माहात्म्य एवं विधि-विधान विस्तारपूर्वक लिखा गया है। पग-पग पर यह स्पष्टीकरण किया गया है कि इस पुस्तक को

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १५

पढ़कर मनमाने ढंग से आरंभ न कर दिया जाय। गुरु की सहायता से अपनी पात्रता के संबंध में जाँच-पड़ताल होने के उपरांत ही क्या करना है, किस प्रकार करना है, इसका निर्धारण कराया जाय। चिकित्सा पुस्तकों में हर रोग निदान-उपचार का विस्तृत उल्लेख रहता है। उसी प्रकार विक्रेता के यहाँ हर प्रकार की औषधियाँ तैयार मिलती हैं। इतने पर भी चिकित्सक के परामर्श एवं निर्देश की आवश्यकता रहेगी ही। कोई रोगी निदान के उपचार के लिए स्वेच्छापूर्वक निर्णय लेने लगे, तो उससे भूल एवं हानि की आशंका रहेगी। इसी प्रकार साधना के संदर्भ में भी यही उपयुक्त समझा जाना चाहिए। जो भी आकर्षक लगे, उसी को करने लगना अनुचित है। अपनी आंतरिक स्थिति का पर्यवेक्षण स्वयं नहीं हो पाता। अपनी आँख तक जब अपने को नहीं दिखाई देती, उसके लिए दर्पण का सहारा लेना पड़ता है, तो फिर अंतःकरण का विश्लेषण-पर्यवेक्षण अपने आप कैसे संभव हो सकेगा और उसके बिना सही उपचार कैसे बने? यहाँ चिकित्सक की सूक्ष्म बुद्धि एवं अनुभवशीलता से लाभ उठाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। यही कारण है कि साधनाएँ करने-बढ़ाने के लिए, निर्धारित मार्गदर्शक का परामर्श, संरक्षण, सहयोग एवं अनुग्रह-अनुदान उपलब्ध करने की आवश्यकता पड़ती है। वह न मिले, तो फिर समझना चाहिए कि गाड़ी रुक गई और सफलता की संभावना धूमिल हो गई। यही कारण है कि “जो सद्गुरु सो दीक्षा पावें सो साधन को सफल बनावें” की लोकोक्ति में बहुत कुछ सार सन्निहित दीखता है।

दो जून १९९० को परम पूज्य गुरुदेव का महाप्रयाण हुआ। अपने अंतिम संदेश में उन्होंने कहा था कि जो कार्य वे स्थूल शरीर से नहीं कर सके अब कारण शरीर से संपन्न करेंगे। विश्व कुंडलिनी जागृत करेंगे, जिससे स्वाति नक्षत्र के चमकने पर मोती, वंशलोचन, मणिमुक्ता बनने का सौभाग्य उन सभी आत्माओं को मिलेगा जो

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १६

उनकी कारण सत्ता से जुड़ेंगे। यह क्रम इस शताब्दी के अंत तक निरंतर चलता रहेगा।

## इष्टदेव का निर्धारण

भौतिक प्रगति के लिए भौतिक पुरुषार्थ करने पड़ते हैं और आत्मिक प्रगति के लिए चेतना का स्तर उठाने और प्रखरता को आगे बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। पेट में भूख लगती है, तो शरीर में समर्थता बढ़ने पर कामुकता की तरंगें उठती हैं और साथी ढूँढ़ने, परिवार बसाने का मानसिक ताना-बुना जाने लगता है। प्राणि-जगत का अस्तित्व और पराक्रम, इन्हीं पेट-प्रजनन के दो गति चक्रों के सहारे सरलतापूर्वक लुढ़कता रहता है। आत्मिक प्रगति का प्रसंग दूसरा है। चौरासी लाख योनियों के संग्रहित स्वभाव-संस्कार मनुष्य जीवन के उपयुक्त नहीं रहते, ओछे पड़ जाते हैं। बच्चे के कपड़े बड़ों के शरीर में कहाँ फिट होते हैं? मानव जीवन की सार्थकता के लिए जिस सद्भाव से अंतःकरण को और सत्प्रवृत्तियों से शरीर को सुसज्जित करना पड़ता है, वे पूर्व अभ्यास एवं प्रभावी प्रचलन न होने के कारण कठिन पड़ते हैं। वह सहज सुलभ नहीं, वरन् प्रयत्न-साध्य हैं। नीचे गिरने में पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का क्रम ही निरंतर सहायता करता रहता है, पर ऊँचा उठाने के लिए विशेष साधन जुटाने होते हैं। आंतरिक अभ्युत्थान के इसी पराक्रम को साधना कहते हैं।

साधना मार्ग पर चलने के लिए प्रथम चरण 'इष्ट निर्धारण' का उठाना पड़ता है। इष्ट अर्थात् लक्ष्य। प्रगति के लिए आंतरिक महत्वाकांक्षा स्वाभाविक है, पर उसका स्वरूप भी तो निश्चित होना चाहिए। उमंगें असीम हैं, उनकी दिशाधारा भी अनेक हैं। पानी पर उठने वाली लहरों की तरह महत्वाकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं। एक के बाद दूसरी लहरें उठती हैं और हवा के झोंके के साथ अपनी दिशाधारा बदलती रहती हैं। प्रवाह की दिशाधारा न हो,

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १७

तो पराक्रम अस्त-व्यस्त रहेगा। किसी लक्ष्य तक पहुँच सकना संभव ही न हो सकेगा। दिशाविहीन भगदड़ से मात्र थकान और निराशा हाथ लगती है। कस्तूरी के हिरण को अभीष्ट स्थान का पता नहीं होता, फलतः वह भटकता और थकता-खिन्ह होता रहता है। मानवी अंतरात्मा की भूख, प्रगति की दिशा में अग्रसर होने की है, महत्त्वाकांक्षाओं के उभार इसी का परिचय देते हैं। आत्मिक प्रगति का कोई निश्चित लक्ष्य एवं स्वरूप सामने न रहने से वह कायिक लिप्साओं की ओर ही लुढ़कने लगती है, और वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति ही जीवनोददेश्य बनकर रह जाता है। इस स्तर की सफलताएँ काया को भले ही कुछ सुख-सुविधाएँ प्रदान कर सकें, अंतःकरण की उच्चस्तरीय प्रगति में इससे तनिक भी सहायता नहीं मिलती। अनियंत्रित भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ आतुर होकर कुकर्म करके भी वैभव उपार्जन में जुट पड़ती हैं और उलटे अधःपतन एवं विक्षोभ का कारण बनती हैं।

साधक का कोई न कोई इष्टदेव होता है, साधना का विधि-विधान उसी के अनुरूप चलता है। यों उपास्य केवल एक ही है-दिव्य जीवन; किंतु उसके लिए पुरुषार्थ करने की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि उपासनात्मक उपचारों के सहारे बनती है। दिव्य जीवन की चरम प्ररिणति ही पूर्णता है। इसी स्थिति को स्वर्ग एवं मुक्ति की प्राप्ति कहते हैं। आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वर-दर्शन भी यही है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसे साधना-विधान के रूप में अपनाना पड़ता है। साधना में शिक्षा और प्रेरणा का समावेश होता है, फलतः उसकी प्रतिक्रिया जीवनोत्कर्ष के रूप में प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगती है।

प्रगति के किस बिंदु तक पहुँचना है, इसका सुदृढ़ पूर्व निश्चय होना आवश्यक है। भव्य भवन बनाने वाले, सर्वप्रथम अभीष्ट निर्माण के नक्शे या मॉडल बनाते हैं। आत्मिक प्रगति के लिए किस

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १८

मार्ग से जाना है, किस स्तर के साधन जुटाने हैं, इसके लिए कितने ही प्रकार के निर्धारण अपनाये जाते रहे हैं। इन्हें इष्टदेव कहते हैं। राम भक्त बनने के लिए हनुमान, मर्यादा पुरुषोत्तम बनने के लिए सविता को इष्ट बनाने की परंपरा है। इस निर्धारण से मन को एक निश्चित दिशा में आगे बढ़ने और तदनुरूप प्रयास करने, साधन जुटाने का मार्ग मिल जाता है। इस निर्धारण से न केवल प्रयास को दिशा मिलती है, वरन् उसी स्तर के अंतःक्षेत्र की प्रसुप्त शक्तियाँ भी जगने लगती हैं। साथ ही परब्रह्म के शक्ति भंडार में से उसी स्तर की अनुग्रह-वर्षा भी अनायास ही आरंभ हो जाती है। आकांक्षाएँ आवश्यकता बनती हैं, आवश्यकता पुरुषार्थ की प्रेरणा जगाती है। प्रेरणा भरे पराक्रम में प्रचंड चुंबकत्व होता है। वह तीन दिशा में काम करता है। प्रथम व्यावहारिक गतिविधियों को अभीष्ट की प्राप्ति के अनुरूप बनाता है। द्वितीय प्रसुप्त क्षमताओं को जगाकर प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए अदृश्य आधार खड़े करता है। तृतीय दिव्य लोक के दैवी अनुदानों के बरसने का विशिष्ट लाभ मिलता है। तीनों के सम्मिलन से त्रिवेणी संगम बनता है।

इष्ट निर्धारण प्रगति क्रम का सुनिश्चित आधार-पथ निश्चित करता है। ईश्वरीय सत्ता का मनुष्य में अवतरण 'उत्कृष्टता' के रूप में होता है। चिंतन और चरित्र में उच्चस्तरीय उमर्गे उठने लगती हैं तथा उसी स्तर की गतिविधियाँ चल पड़ती हैं। उत्कृष्टता की उपासना ही ईश्वर उपासना है। यही उपास्य है। लक्ष्य भी इसी को बनाना पड़ता है। इष्ट देव का निर्धारण किस रूप में किया जाय, आज इस संदर्भ में अनेकों विकल्पों के जंजाल बने खड़े हैं। प्राचीनकाल में ऐसा न था। तत्वज्ञानी एक निश्चय परं पहुँचे थे और उन्होंने समस्त साधकों को वही निष्कर्ष अपनाने का परामर्श दिया था। भारतीय संस्कृति जिसे वस्तुतः विश्व संस्कृति कहा जाना चाहिए, साधना के संदर्भ में एक ही निश्चय पर पहुँची है कि

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / १९

आत्मिक प्रगति की साधना के लिए इष्ट रूप में गायत्री का ही वरण होना चाहिए।

गायत्री को इष्ट मानने की अनादि परंपरा है। सृष्टि के आदि में ब्रह्मा जी ने कमल पुष्प पर बैठकर आकाशवाणी द्वारा निर्देशित गायत्री उपासना की थी और सृजन की सामर्थ्य प्राप्त की थी। इसका उल्लेख पुराणों में मिलता है। त्रिदेवों की उपास्य गायत्री रही है। देव गुरु बृहस्पति ने दक्षिण मार्गी, दैत्य गुरु शुक्राचार्य ने वाममार्गी साधनायें गायत्री के ही आत्मिक और भौतिक पक्षों को लेकर प्रचलित की थीं। सप्तऋषि, गायत्री की सप्त व्याहतियों के प्रतीक माने जाते हैं। राम, कृष्ण आदि अवतारों की इष्ट गायत्री रही है। इसी महामंत्र की व्याख्या में चारों वेद तथा अन्यान्य धर्मशास्त्र रचे गये हैं, दत्तात्रेय के चौबीस गुरु गायत्री के चौबीस अक्षर ही हैं। चौबीस योग, चौबीस तप प्रसिद्ध हैं। यह सभी गायत्री के तत्त्वज्ञान और साधना-विधान का विस्तार है। गायत्री गुरुमंत्र है। दीक्षा में उसी को माध्यम बनाया जाता है। हिन्दू धर्म के दो प्रतीक हैं-शिखा और सूत्र। दोनों ही गायत्री के प्रतीक हैं। गायत्री का ज्ञान पक्ष मस्तिष्क पर शिखा के रूप में और कर्म पक्ष कंधे पर यज्ञोपवीत के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। परंपरागत उपासना-विधि संध्या है। संध्या में गायत्री का समावेश अनिवार्य है। इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि गायत्री अनादि धर्म परंपरा एवं अध्यात्म परंपरा का आधार भूत तथ्य है। उपासना में उसी का प्रयोग सर्वोत्तम है।

तत्त्वदर्शन की दृष्टि से गायत्री 'ऋतंभरा प्रज्ञा' है। ऋतंभरा अर्थात् विवेक संगत श्रद्धा। प्रज्ञा अर्थात् श्रेय साधक दूरदर्शिता। इस समग्र विवेकशीलता को गायत्री कह सकते हैं। इस बीज मंत्र का विशाल वृक्ष ब्रह्मविद्या है। अध्यात्म का यह दार्शनिक पक्ष है। साधना प्रयोजन में इसी के विभिन्न उपचार योगाभ्यासों, तप साधनों एवं धर्मानुष्ठानों के रूप में प्रचलित हैं। इष्ट का, लक्ष्य

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २०

का, उपास्य का निर्धारण, दिव्यदर्शियों ने गायत्री के रूप में गहन अध्यवसाय और अनवरत अनुभव-अभ्यास के आधार पर किया है। वह प्राचीनकाल की ही तरह अपनी उपयोगिता यथावत् अक्षुण्ण रखे हुए हैं।

गायत्री सार्वभौम एवं सर्वजनीन है। इसे किसी देश, धर्म, जाति, संप्रदाय तक सीमित नहीं किया जा सकता है। भारत में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम भारतीय संस्कृति पड़ा है, पर उसकी कोई प्रक्रिया इस परिधि में रहने वाले लोगों तक सीमित नहीं रखी जा सकती। गायत्री भारतीय संस्कृति की आत्मा कही जाती है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसी देश के निवासी या इसी धर्म के अनुयायी इसका उपयोग कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति वस्तुतः दैवी संस्कृति है, उसे मानवी संस्कृति कह सकते हैं। उसे देश, धर्म, जाति, भाषा, संप्रदाय आदि के नाम पर अपने-पराये की विभाजन रेखा नहीं बनानी चाहिए।

ऋतंभरा को इष्ट माना जाये, यही मावन जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि है। आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान इसी को कहा गया है। विवेकशीलता-दूरदर्शिता यही है। न्याय और औचित्य इसी के प्रतिफल हैं। परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करने वाले जानते हैं कि वह मात्र मनःस्थिति की ही परिणति होती है। बुरी परिस्थितियों के लिए बुरी मनःस्थिति ही उत्तरदायी होती है। भीतर का परिवर्तन बाहरी परिकर में आश्चर्यजनक हेर-फेर उत्पन्न करता है। दरिद्रता, विपन्नता, विग्रह, विपत्ति एवं विभीषिकाएँ, आंतरिक निकृष्टता की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। उत्कृष्ट चिंतन के कारण बन पड़ने वाले आदर्श क्रिया-कलाप ही मनुष्य को आत्मसंतोष, जन-सम्मान, विपुल सहयोग एवं दैवी अनुग्रह की अनेक संपदाएँ एवं विभूतियाँ प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन काल की सत्ययुगी परिस्थिति और देवोपम मनःस्थिति की सुखद गाथा गाने वाले जानते हैं कि अतीत की

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २१

गरिमा का एक मात्र आधार, उस समय अपनाया गया उत्कृष्ट दृष्टिकोण एवं आदर्श चरित्र ही था। इस समस्त वैभव को ऋतुंभरा की देन कह सकते हैं। यह प्रज्ञा की देवी का अजस्त अनुदान ही था, जिसे पाकर भारत भूमि और समस्त विश्व-वसुधा को चिरकाल तक कृत-कृत्य रहने का अवसर मिला।

प्रज्ञा को इष्ट मानकर चलने वाला उन सभी लाभों को प्राप्त करता है, जो गायत्री उपासना के माहात्म्य वर्णन में आंकर्षक एवं अलंकारिक ढंग से बताये गये हैं। “नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”। आत्मा बाऽऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो, जैसे उद्बोधन वाक्यों में जिस आत्मज्ञान की गरिमा बतायी गयी है, जिसे प्राप्त करके भगवान् बुद्ध की तरह अनेकानेक श्रेय-साधक धन्य बनते रहे हैं, वही महाप्रज्ञा आदिशक्ति गायत्री है। उसी का हमें वरण करना चाहिए।

गायत्री का वाहन हंस है—राजहंस, परमहंस, विवेकवान्-प्रज्ञावान्। राजहंस नीर-क्षीर-विवेक से युक्त, कृमि-कीटकों का भक्षण करने से विरत, मुक्ताओं पर निर्भर रहता है। यह चित्रण बताता है कि श्रेय-साधक की मनोभूमि कैसी होनी चाहिए। गायत्री जिसे परंकृपा करे, वह प्रज्ञावान् होता है अथवा प्रज्ञावान् को गायत्री का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है। दोनों प्रतिपादनों का तात्पर्य एक ही है। गायत्री का इष्टरूप में वरण सर्वोत्तम चयन है। इतना निश्चित निर्धारण करने पर आत्मिक प्रगति का उपक्रम सुनिश्चित रूप से दृतगति से अग्रगामी बनने लगता है, तब साधना से सिद्धि के सिद्धांत में कहीं शक की गुंजाइश नहीं रह जाती।

### दीक्षा की प्रक्रिया और व्यवस्था

गुरु दीक्षा के तीन स्तर हैं। मंत्र दीक्षा, प्राण दीक्षा, अग्नि दीक्षा। मंत्र दीक्षा को एक परंपरा अपनाने एवं मार्गदर्शन स्वीकार करने के स्तर का समझा सकता है। इसमें शुद्ध उच्चारण सिखाया जाता है

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २२

और सामान्य स्तर के नित्य कर्म का विधि-विधान सिखाकर उसे दिनचर्या का छोटा अंग बनाये रहना पड़ता है। इसमें अनुशासन के परिपालन भर का प्रावधान है। यह सामान्य स्तर की बात है। इसे काम चलाऊ प्रक्रिया के रूप में लिया और साधना क्षेत्र की रुकी हुई गाड़ी को आगे बढ़ाया जा सकता है। इसे प्रशिक्षण, मार्गदर्शन, अनुशासन की हल्की-फुल्की शृंखला कहा जा सकता है। कर्मकांड इसका भी होता है। एक हल्के सूत्र में दोनों इसमें बँधते भी हैं। इसे प्राथमिक प्रवेश स्तर का समझा जा सकता है। दोनों पक्ष आवश्यकता अनुभव करके एक दूसरे को खटखटाते हैं। सामान्यतया वे एक-दूसरे का कोई निश्चित उत्तरदायित्व नहीं ओढ़ते।

उससे ऊँची हाई स्कूल स्तर की शिक्षा के समतुल्य प्राणदीक्षा है। इसमें गुरु अपनी तपश्चर्या, पुण्य संपदा और प्राण ऊर्जा का एक अंश देकर शिष्य की पात्रता एवं क्षमता बढ़ाने में योगदान करता है। शिष्य व्रतधारण करता है और उन्हे निभाता है। इससे आदान-प्रदान का क्रम आजीवन चलता है। इसे संतान और अभिभावक स्तर की आत्मीयता और उसके साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारी बनाये रखने के समतुल्य समझा जा सकता है। इस उपक्रम को, सामान्य पेड़ को कलमी आम बनाने के सदृश समझा जा सकता है, जिसमें गुरु अपनी टहनी काटकर शिष्य में आरोपित करता है। जैसे पौधा जड़ों से लगायी गयी कलम को रस देता है और विकसित कर लेता है, उसी प्रकार गुरु के प्राण, तप और पुण्य का अंश प्राप्त करके शिष्य अपने साधना-पुरुषार्थ से उसे विकसित-फलित करता है। यह प्रक्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक विकास की विधा है।

दीक्षा अंतरंग का संबंध है। इसमें बाहरी औपचारिकता का उतना महत्व नहीं है। गुरु पर प्रभाव पड़ता है शिष्य की भावना का। स्तुति में कहे गये शब्दों या औपचारिकता का नहीं, शिष्य के अंतराल के स्तर का प्रभाव पड़ता है। उसी से द्रवित होकर वे कुछ

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २३

वैसा देने के लिए तैयार होते हैं, जिसके फलस्वरूप कोई कहने लायक विभूति हाथ लग सके। दर्शन करने, माला पहनाने, नमन करने, बातें बनाने भर से वह लाभ कहाँ मिलता है, जो सच्चे शिष्य को, सच्ची पात्रता उपलब्ध कराती है ?

बेटी के विवाह से पूर्व जामाता की पात्रता हजार बार परखी जाती है, वह उसे पाने का अधिकारी भी है या नहीं ? उसे पाकर क्या करेगा ? प्रतीत हो कि कुपात्र जामाता उपलब्ध पुत्री से दासी वृत्ति कराने और घर भरने की बात सोचता है, तो इसके लिए कोई अपनी बेटी नहीं देगा। सिद्ध पुरुषों की सिद्धियाँ सुयोग्य बेटी से भी अधिक प्रिय और बड़ी कठिनाई से समर्थ बनायी गई होती हैं। इन्हें पाने के लिए हाथ पसारने भर से काम चलने वाला नहीं है, उसके लिए पात्रता प्रस्तुत करनी होगी और जिस शर्त पर उसे लिया गया है, उस अनुबंध को निभाना ही होगा।

महान गुरु किसी उच्च प्रयोजन के लिए अपनी शक्तियाँ या सिद्धियाँ हस्तांतरित करते हैं। संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्ति के लिए, लोभ-मोह और अहंकार की तृप्ति के लिए, कोई विवेकवान अपनी बहुमूल्य-कष्ट साध्य कर्माई नहीं दे सकता है और न इस प्रकार किसी की जेब काटने की बात किसी न्यायनिष्ठ को सोचनी चाहिए। सरकारी उच्च पदासीन अफसरों को कितने ही सामान्य अधिकार या साधन मिलते हैं, पर उनका प्रयोग प्रजाहित में शासन की इच्छानुसार ही किया जा सकता है। कोई अफसर उन साधनों का उपयोग निजी स्वार्थ साधने में करने लगे, तो उसे अपराधियों के कटघरों में खड़े होना होगा।

गुरु-गरिमा आदर्शों को अपनाकर ही उन्हें उपलब्ध हुई होती है, वे उसे हस्तांतरित भी उसी प्रयोजन के निमित्त करते हैं। साथ ही यह भी जानते, परखते हैं कि लेने वाला प्रामाणिक एवं ईमानदार भी है या नहीं ? यह सिद्ध न कर पाने पर, कुपात्र शिष्य जिस-तिस के सामने

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २४

पल्ला पसारते फिरने पर भी खाली हाथ रहता है। गुरुओं की दीक्षा अनुदान इस शर्त पर हस्तांरित होते हैं कि जो माँगा जा रहा है, उसका प्रयोग-उपयोग उच्चस्तरीय प्रयोजनों में हो। संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्ति के लिए चाटुकारिता करने भर की ओछी रिश्वत देकर किसी को उच्चस्तरीय अनुदान पाने में सफलता नहीं मिली। इस नंगी सच्चाई को जितनी जल्दी समझ लिया जाय, उतना ही अच्छा है।

पूज्य गुरुदेव को, वंदनीया माता जी को उनके महाप्राण गुरुदेव ने जो अनुदान दिया है, उसके पीछे यही शर्त रही, जिसे उन्होंने आदि से अंत तक पूरी ईमानदारी के साथ पूरा किया है। पात्रता की कसौटी सदा उनके ऊपर लगी रही है। जितने खरे सिद्ध होते चले हैं, उसी आधार पर क्रमशः उन्हें अधिकाधिक बड़े अनुदान मिलते चले आये हैं। विवेकानंद, दयानंद, शिवाजी, चंद्रगुप्त आदि ने जो माँगा, पाया, वह उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए था। पाने से पूर्व इसमें से हर किसी को अपनी पात्रता सिद्ध करनी पड़ी है। मैडीकल कॉलेज में प्रवेश पाने से पूर्व “प्री मेडीकल टेस्ट” देने पड़ते हैं। अफसरों के चुनाव में चुनाव आयोग के सामने कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता है। दंगल में इनाम पाने से पूर्व अपना पराक्रम अन्य प्रतियोगियों से अधिक होने का प्रमाण प्रस्तुत करना पड़ता है।

सात लाख की लाटरी खुल जाने के उपरांत एक हजार का दान करने का प्रलोभन देने वाले अध्यात्म क्षेत्र में बचकाने माने जाते हैं। लाटरी का नंबर बताने की स्थिति में जो है, वह किसी को नंबर बताने और मात्र हजार रुपये से संतोष करने की बात सोचेगा ही नहीं, किसी को बिचौलिया नहीं बनायेगा, अपनी ही लाटरी खोल लेगा। किसी का अहसान क्यों लेगा? लाभ होने के उपरांत दान देने की शर्त विवेकवानों के बीच काम नहीं देती, यह तो ओछे लोगों का, प्रलोभन देकर काम कराने का घिनौना तरीका है। उच्च

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २५

क्षेत्रों में इस हेरा-फेरी की कोई गुंजाइश नहीं है। वरदान जिसे भी मिले हैं, तप करके अपनी पात्रता सिद्ध करने के उपरांत ही मिले हैं।

पूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी ने आदान-प्रदान की जो प्रक्रिया अपने महा-गुरुदेव के साथ निभायी है। उनका शिष्यत्व प्राप्त करने के इच्छुकों में से प्रत्येक को भी वही अपनानी चाहिए। पूज्य गुरुदेव के पास जो था, वह सच्चे मन से उन्होंने परमार्थ के लिए महान् गुरुदेव की इच्छा-आवश्यकता के निमित्त, अपने को, साधनों को खपा देने के रूप में समर्पित किया। उनके आदेशानुसार अपने आपको तपाया। यही है वह पात्रता, जिसके बदले में उनके महाप्राण गुरुदेव ने अपनी भारी कमाई उनकी समर्थता के निमित्त निछावर कर दी। उसी आधार पर वंदनीया माताजी भी अपने आराध्य गुरुदेव की शक्ति पाकर अनंत शक्तिरूपा बनी हैं। एक प्रत्यक्ष व दूसरे परोक्ष मिलकर समग्र गुरु तंत्र का निर्माण करते हैं।

मन बहलाना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा गुरु-शिष्य की परंपरा अपनाने की, सच्चे अर्थों में कार्यान्वित करने की बात ही सोची जानी चाहिए और उसी आधार पर कोई बड़ा लाभ पाने, महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान का द्वार खोलने की चेष्टा उस प्रकार करनी चाहिए, जैसी कि उदार चेता करते आये हैं।

### देने की क्षमता और लेने की पात्रता

देने वाला अधिकाधिक समर्थ है या लेने वाला। उसके उत्तर में लेने वाले की पात्रता को कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। बादल कितने की क्यों न बरसें, टीले पर एक बूँद पानी नहीं रुकेगा, और चट्टान पर एक पत्ता नहीं उगेगा। पानी उतना ही रुकेगा, जितना गड्ढा हो। समुद्र में क्षमता होने पर सभी नदियाँ उसमें जा मिलती हैं जबकि पहाड़ों और रेगिस्तानों की ओर जाने का उनका तनिक भी रुझान नहीं होता।

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २६

आँखें न हों, तो दोपहर की धूप में भी कुछ न दीखेगा। कान न हों, तो मधुर संगीत और विज्ञान का लाभ कहाँ मिलेगा। मस्तिष्क पर मूढ़ता छायी हो, तो सत्संग-परमर्श की उपयोगिता नहीं रह जाती। शिष्य की पात्रता विकसित हो, तो मिट्टी के द्रोणाचार्य, पत्थर के गिरधर गोपाल भी चमत्कार दिखा सकते हैं। समर्थ गुरु रामदास-शिवाजी का, चाणक्य-चंद्रगुप्त का, रामकृष्ण-परमहंस-विवेकानन्द का, विरजानन्द-दयानन्द का ही भला कर सके। यों उन लोगों के पास शिष्य नामधारियों की मंडलियाँ मंडराती ही रहीं, पर समर्थता का सानिध्य पाने पर भी उनके पल्ले कुछ पड़ा नहीं।

गुरु गरिमा जितनी आवश्यक है, शिष्य की श्रद्धा, सद्भावना का महत्त्व उससे कम नहीं, वरन् अधिक ही है। उसके अभाव में मात्र वरदान-अनुदान पाने के लिए जिस-तिस की जेब काटने का मनोरथ लेकर शिष्य बनने का आडंबर ओढ़ने वालों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। भीतर की स्थिति प्रकट हुए बिना कहाँ रहती है? छद्म से कौन प्रभावित होता है? देवता, ऋषि और सिद्ध पुरुषों पर व्यक्ति अपनी श्रद्धा आरोपित करता है और गुरुतत्त्व उस टहनी को समर्थ रखने के लिए भाव-भरा योगदान प्रस्तुत करता रहता है। कलमी आम पर अपेक्षाकृत अधिक मीठे, अधिक बड़े, अधिक कीमती और अधिक जल्दी-जल्दी फल आते हैं। प्राण प्रत्यावर्तन की दीक्षा में यही होता है। इसे अंग प्रत्यारोपण, रक्तदान जैसी उपमा दी जाती है। दोनों अधिक घनिष्ठतापूर्वक बँधते और मिल-जुलकर किसी महान् लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। विश्वामित्र-हरिश्चंद्र, समर्थ गुरु रामदास-शिवाजी, चाणक्य-चंद्रगुप्त जैसे युग्मों में इसी प्राण दीक्षा का आभास मिलता है।

अग्नि दीक्षा अत्यंत उच्चस्तरीय है। इसे राजा द्वारा युवराज को अपने सामने ही उत्तराधिकारी घोषित करने के समान समझा जा सकता है। सिख गुरुओं में एक के बाद एक की नियुक्ति इसी प्रकार होती रही है। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को इसी स्तर

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २७

का अनुदान दिया था। इस स्तर की पात्रता और अनुकंपा के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है। यह प्रसंग अत्यंत उच्चस्तरीय होने के कारण अब तक इस संबंध में कभी प्रकाश नहीं डाला गया, पर महाप्रयाण से पूर्व अपने अंतिम अंतरंग संदेश में परम पूज्य गुरुदेव ने प्रतिभाओं को ढूँढ़ने और उन्हें अग्नि दीक्षा में तपाकर भारतवर्ष को सऱ्वा लाख महापुरुष प्रदान करने का लक्ष्य बताया। आश्वमेधिक अभियान उसी के लिए एक विशिष्ट मंथन प्रक्रिया समझनी चाहिए। इस शताब्दी के अंत तक दीक्षा द्वारा जुड़ने वाली आत्माओं में ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से—यथा सेना, विज्ञान, साहित्य, कला, कृषि, पर्यावरण, उद्योग, ज्योतिर्विज्ञान, अंतरिक्ष विद्या के मूर्धन्य विकसित करने का कार्य चल पड़ा है। यही आत्मायें इस देश को प्रगति के चरम शिखर तक ले जायेंगी। अतएव इन दिनों दीक्षा का विशेष महत्त्व रहेगा। न जाने किस अंतःकरण में उनका अग्नि तत्त्व प्रस्फुटित हो जाए। जिसकी लंबे समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

## तथ्य समझने के उपरांत ही गुरुदीक्षा की बात सोचें

गुरुदीक्षा का दान-गुरु दक्षिणा है। कलमी आम में एक टहनी बाहर से काटकर लगाई चिपकाई जाती है। जिस पेड़ में चिपकाते हैं, वह उस टहनी को अपना रस देना आरंभ कर देता है। दोनों जुड़ जाते हैं, तो कलमी आम बनता है, उस पर मोटे, बड़े जल्दी और कीमती फल आते हैं। टहनी लगाना गुरु-दीक्षा है और रस देना गुरुदक्षिणा। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक पक्ष शिथिल पड़ेगा, तो दूसरे का श्रम व्यर्थ चला जायेगा।

गुरु को अपना तप, पुण्य और प्राण शिष्य को हस्तांतरित करना पड़ता है। शिष्य को अपनी श्रद्धा, विश्वास, समयदान-अंशदान सत्यप्रयोजनों के लिए प्रस्तुत करना होता है।

पूज्य गुरुदेव को उनके महा-गुरुदेव ने जो अजस्त्र अनुदान

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २८

दिया है, उस पूँजी को पूज्य गुरुदेव ने भी उन्हीं शर्तों पर हस्तांतरित किया है, जिस पर कि उन्हें मिला है।

पूज्य गुरुदेव एक महान मिशन का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे व्यक्ति नहीं एक मिशन हैं। उनकी न तो निजी माँग रही है, न आवश्यकता। अनुदान का प्रतिदान उनके मिशन के निमित्त समयदान-अंशदान के रूप में ही नियमित रूप से करना होता है। ताली दोनों हाथों से बजती है, गाढ़ी दो पहियों पर चलती है। अंधे और पंगु ने मिलजुलकर नदी पार की थी। गुरु और शिष्य को अपने-अपने उत्तरदायित्व निभाने होते हैं। जो पीछे हटता है, वह घाटे में रहता है।

### गायत्री उपासना का संक्षिप्त विधान

गायत्री महामंत्र का भाव-चिंतन तथा मानसिक जप चलते-फिरते किसी भी स्थिति में करते रहा जा सकता है। फिर भी नैष्ठिक साधक को न्यूनतम १० मिनट का समय, संध्या सहित न्यूनतम एक माला का जप, करने में लगाना चाहिए। संध्योपासना का क्रम इस प्रकार है।

उपासना के लिए ब्रह्ममुहूर्त-प्रातःकाल का समय सर्वश्रेष्ठ है। यदि परिस्थितिवश वह समय न पकड़ा जा सके, तो अपनी सुविधा के अनुसार कोई समय निश्चित कर लेना चाहिए।

स्नान करके उपासना करना श्रेष्ठ है। यदि जल का अभाव हो, या शारीरिक कमजोरी-बीमारी के कारण स्नान संभव न हो, तो हाथ-पैर धोकर, वस्त्र बदलकर भी उपासना के लिए बैठा जा सकता है।

किसी स्थान पर स्वच्छ आसन पर बैठकर उपासना का क्रम प्रारंभ करें। अच्छा हो, घर या कमरे के एक हिस्से में पूजन का स्थान निश्चित कर लिया जाय। उस स्थान को कलश, गायत्री माँ या मंत्र का चित्र लगाकर सुसज्जित भी किया जा सकता है।

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / २९

उपासना के समय जल का पात्र (आचमनी-पंचपात्र) एवं दीपक अथवा अगरबत्ती प्रज्वलित करके रखना चाहिए। जल एवं अग्नि की साक्षी में उपासना करने का शास्त्र मत है। पहले संध्या-षट्कर्म करें :

**पवित्रीकरण :-** शुद्ध आसन पर पालथी लगाकर सुखासन से बैठें। बायें हाथ में जल लेकर दायें से ढकें। मन ही मन गायत्री मंत्र बोलें, मंत्र पूरा होने पर वह जल शरीर पर छिड़क लें। भावना करें कि प्रभु कृपा से पवित्रता का संचार हमारे शरीर, मन एवं अंतःकरण में हो रहा है।

**आचमन :-** आचमनी (चमची) से या दायें हाथ में जल लेकर, गायत्री मंत्र बोलते हुए क्रमशः तीन बार आचमन करें। भावना करें कि यह अभिमंत्रित जल हमारे तीनों शरीरों को समर्थ और सुसंस्कारी बना रहा है।

**शिखा-बंदन :-** गायत्री मंत्र का जप करते हुए शिखा-चोटी में गाँठ लगायें। चोटी न हो, तो उस स्थान को स्पर्श करें। भावना करें कि हम श्रेष्ठ देवसंस्कृति के नैष्ठिक अनुयायी हैं। हम हमेशा उच्चतम आदर्शों का वरण करें और उन्हें प्राप्त करने की तेजस्विता हमें प्राप्त हो।

**प्राणायाम :-** कमर, मेरुदंड सीधा रखकर बैठें। भावना करें, परमात्मा की कृपा से हमारे चारों ओर दिव्य प्राण का सरोवर लहरा रहा है। हम पानी में मछली की तरह उसी दिव्य प्राण के बीच स्थित हैं।

गहरी श्वास खीचें। भावना करें कि श्वास के साथ दिव्य प्राण हमारे अंदर प्रवेश कर रहा है और शरीर का कण-कण उसे सोख रहा है।

सहज रूप से थोड़ी देर श्वास रोकें। भावना करें कि दिव्य प्राण हमारे अंदर स्थिर हो रहा है।

---

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ३०

श्वास धीरे-धीरे छोड़ते हुए भावना करें कि शरीर के विकार श्वास के साथ बाहर जा रहे हैं।

थोड़ी देर सहज रूप से बाहर श्वास रोकें। भावना करें कि विकार दूर चले जा रहे हैं, अंदर प्राण का प्रकाश उभर रहा है। यह एक प्राणायाम हुआ। ऐसे तीन प्राणायाम करें।

**न्यास :-**बायें हाथ में जल लें, दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियाँ मिलाकर जल का स्पर्श करें। गायत्री मंत्र से उस जल को अभिमंत्रित करें। अब गायत्री मंत्र का एक-एक खंड बोलते हुए एक-एक अंग को उस जल से स्पर्श (नीचे लिखे क्रम से) करें। भावना करें कि इस स्पर्श से हमारे प्रमुख अंग-उपांग देव प्रयोजनों के अनुरूप पवित्र और सशक्त बन रहे हैं।

१-ॐ भूर्भुवः स्वः-मस्तक को। २-तत्सवितुः-दोनों नेत्रों को। ३-वरेण्यं-दोनों कानों को। ४-भर्गो-मुख को। ५-देवस्य-कंठ को। ६-धीमहि-हृदय को। ७-धियो यो नः-नाभि को। ८-प्रचोदयात्-हाथों-पैरों को।

पृथ्वी पूजन-एक आचमनी जल गायत्री मंत्र के साथ पृथ्वी पर चढ़ायें तथा धरती माता को छूकर प्रणाम करें। भावना करें कि धरती माँ जिस तरह शरीर के पोषण के लिए अन्न आदि देती है, वैसे ही अंतःकरण के पोषण के लिए शुभ संस्कार प्रदान करे।

गुरु वंदना-इस प्रकार षट्कर्म पूरे होने पर हाथ जोड़ कर गुरु वंदना करें। भावना करें कि गुरु चेतना उपासना के समय हमारे संरक्षण एवं मार्गदर्शन के लिए हमारे साथ है:-

ॐ अखण्डमंडलाकारं व्याप्तं येनं चराचरम्।

तत्पदं दर्शित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गायत्री वंदना-आदि शक्ति माँ गायत्री का स्मरण करें। प्रार्थना करें कि वे उपासना के समय हमें प्रेरणा और शक्ति प्रदान करने के लिए दिव्य प्रवाह के रूप में प्रकट हों, हमें दिव्य बोध करायें:-

आत्मिक प्रगति के लिए अवलंबन की आवश्यकता / ३१

ॐ आयातु वरदे देवि ! ऋक्षरे ब्रह्मवादिनी ।  
गायात्रिच्छन्दसां मातः ब्रह्मयोने नमोऽस्तुते ॥

इतना क्रम पूरा करने में लगभग ४-५ मिनट समय लग सकता है। जब भावनापूर्वक माला लेकर अथवा बिना माला लिए ही (जैसा अनुकूल पड़े) जप करें। जप के समय ध्यान करें कि सूर्य के प्रकाश की तरह माँ का तेज हमारे चारों ओर व्याप्त है। जप के प्रभाव से वह रोम-रोम में भिद रहा है, हमारी काया, मन, अंतःकरण सब उससे अनुप्राणित एकाकार हो रहे हैं।

जप पूरा होने पर हाथ जोड़कर परमात्म-चेतना एवं गुरु-चेतना को प्रणाम करें। विसर्जन की प्रार्थना करें।

ॐ उत्तमे शिखरे देवि ! भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।

ब्राह्मणेभ्यो ह्यनुज्ञाता गच्छ देवि ! यथासुखम् ॥

विसर्जन के बाद जल-पात्र लेकर सूर्य की ओर मुख करके जल का अर्घ्य चढ़ायें। भावना करें कि जिस प्रकार पात्र छोड़कर जल सूर्य भगवान को अर्पित होकर वायुमंडल में सव्याप्त हो रहा है, उसी प्रकार हमारी प्रतिभा भी स्वार्थ के संकीर्ण पात्र से मुक्त होकर परमात्मा के निमित्त लगे और महानता को प्राप्त हो।

दीक्षित व्यक्ति आहार और निद्रा की तरह उपासना को भी जीवन का अंग बना ले। परम पू० गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी के संरक्षण में की गयी उपासना, जीवन के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों पक्षों को विकसित करती है। साधक की भावनाओं, विचारों एवं गुण-कर्म-स्वभाव में दिव्यता समाविष्ट होकर असाधारण लाभ का सुयोग उपस्थित कर देगी।



---

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ० प्र०)